

## भारत की अवरुद्ध क्रांति

(यह लेख 10 साल पहले 'युवा संवाद' (मई 2010) में छपा था। तात्कालिक संदर्भ था छत्तीसगढ़ के दांतेवाड़ा में माओवादियों द्वारा 76 सुरक्षाकर्मियों की हत्या। उस वारदात में 8 माओवादी भी मारे गए थे। सुरेंद्र मोहन जी ने लेख को महत्वपूर्ण बताते हुए आग्रह किया था कि उसे अंग्रेजी साप्ताहिक 'जनता' के लिए अंग्रेजी में भी तैयार कर दूं। मैंने उनसे विनम्रता पूर्वक कहा था कि अंग्रेजी वालों को भी कभी-कभार भारतीय भाषाओं में लिखा पढ़ना चाहिए। जब लोग अंग्रेजी 'आउटलुक' में छपा अरुंधती राय का लेख पढ़ सकते हैं, तो हिंदी मासिक 'युवा संवाद' में छपा लेख क्यों नहीं पढ़ सकते? नए पाठकों के लिए लेख यथावत रूप में फिर जारी किया गया है।)

प्रेम सिंह

### भारतीय राज्य और शासक-वर्ग

यह सही है कि माओवादी भारतीय राज्य को लगातार छापामार युद्ध चला कर उखाड़ फेंकना चाहते हैं। उनकी यह विचारधारात्मक और रणनीतिक प्रतिबद्धता और योजना नई नहीं है। जब भारत आजाद हो रहा था; उसका संविधान बन रहा था; उसके बाद वह एक कल्याणकारी राज्य की भूमिका में था; तब से हिंसक-क्रांति में विश्वास रखने वाले मार्क्सवादी भारतीय राज्य को उखाड़ फेंकने का विचार रखते रहे हैं। चालीस के दशक के उत्तरार्द्ध में हुए तेलंगाना और तेलंगा के हिंसक विद्रोहों में इसकी स्पष्ट झलक मिलती है। साठ के दशक में भारत-चीन युद्ध के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) में टूट होती है। रूस के बजाय चीन की लाइन का समर्थन करने वाले मार्क्सवादी 1964 में अलग मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीएम) बना लेते हैं। सीपीएम के कुछ सदस्य चारू मजूमदार के नेतृत्व में 1967 में उत्तर बंगाल के इलाके नक्सलबाड़ी में सशस्त्र विद्रोह करते हैं। विद्रोह चीन की क्रांति और उसके नेता माओ त्से तुंग को आदर्श मान कर किया गया। चारू मजूमदार ने प्रसिद्ध नारा दिया : 'चीन के चेयरमैन हमारे चेयरमैन'। माओवाद के समर्थक सीपीएम से अलग होकर चारू मजूमदार के नेतृत्व में 1969 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) का गठन करते हैं। नक्सलबाड़ी के विद्रोह के साथ शुरू हुआ माओवादी आंदोलन देश के कई हिस्सों में फैल जाता है।

माओवाद के पहले उभार का पश्चिम बंगाल की राज्य सरकार ने सख्ती से दमन किया। 1972 में चारू मजूमदार की जेल में मृत्यु हो जाती है। उनके जीवन-काल में ही उनकी लाइन और नेतृत्व को लेकर विवाद उठने शुरू हो गए थे। उनके बाद माओवादी आंदोलन के कई गुट, संस्करण, नेता और प्रयोग हुए। वह आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, उड़ीसा, बिहार, पंजाब, महाराष्ट्र

आदि प्रदेशों में फैला। माओवादियों में विचारधारा और लाइन को लेकर आंतरिक विवाद और कभी-कभार खूनी संघर्ष भी हुआ। माओवादी आंदोलन के इस पहले उठान में अस्सी के दशक में ठहराव आ गया। लेकिन तब तक 'वर्ग-शत्रु के सफाए' और भारतीय राज्य को सशस्त्र विद्रोह से उखाड़ फेंकने की जो लकीर उसने डाली, वह भारत जैसे विषमताग्रस्त देश में जल्दी मिटने वाली नहीं थी। हालांकि, जैसा कि हम आगे देखेंगे, इस दौर के अनुभव से यह भी तय हो गया कि माओवादी रास्ते से कभी भी भारत में क्रांति नहीं होगी। भले ही वह लंबे समय तक शासक-वर्ग के एक हिस्से और उसके प्रभाव में गरीबों के एक हिस्से के आकर्षण का केंद्र बना रह सकता है।

नब्बे के दशक में माओवाद का फिर से उभार होता है। हालांकि उसकी विचारधारा और रणनीति पुरानी ही रहती है। उस विचारधारा और रणनीति के भारतीय यथार्थ के साथ संबंध पर हम थोड़ा आगे विचार करेंगे। पहले यह देख लें कि माओवादियों के हमले के खिलाफ सैनिक ताकत से राज्य की हिफाजत का ऐलान करने वालों ने भारतीय राज्य की क्या स्थिति बना कर रखी है? पिछले बीस सालों में यह स्पष्ट हो चुका है कि उन्होंने भारतीय राज्य को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नवउदारवादी वैश्विक संस्थाओं का गुलाम और राष्ट्रीय स्तर पर स्वार्थी गिरोहों का अड्डा बना दिया है। यह राज्य उन्हें इसलिए चाहिए क्योंकि उसमें उनकी बेईमानी, झूठ, दलाली, पाखंड, अंधविश्वास, और नंगापन खुल कर चलते हैं; सांप्रदायिकता, जातिवाद, वंशवाद, परिवारवाद, क्षेत्रवाद, धनबल और बाहुबल की राजनीति चलती है; साहित्य, कला, संस्कृति, भाषा, धर्म, शिक्षा, स्वास्थ्य, यहां तक कि मानवीय संबंध मुनाफा कमाने का जरिया होते हैं; देश के संसाधन दलाली खाकर देशी-विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को बेचे जाते हैं; विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन, बहुराष्ट्रीय कंपनियों, और सबसे ऊपर साम्राज्यवादी अमेरिका के आदेश पर उनके हित के लिए, देश की संप्रभुता गिरवी रख कर, संविधान विरोधी कानून बनाए जाते हैं और करार किए जाते हैं; नागरिक स्वतंत्रता एवं अधिकारों के लिए आवाज उठाने वाले नागरिक-समाज को बात-बात में देशद्रोही प्रचारित किया जाता है; वाजिब अधिकारों के लिए लोकतांत्रिक ढंग से लड़ने वालों को पहले बरगलाया जाता है, अड़ने पर उनका सख्ती से दमन किया जाता है; हिंसा का जवाब तो हिंसा से दिया ही जाता है। ये सब मनुष्य, समाज और राष्ट्र-विरोधी धत्कर्म करने के बावजूद वे ठाठ से भारी राष्ट्रवादी होने का चोला पहनते हैं।

दांतेवाड़ा की घटना (6 अप्रैल 2010 को छत्तीसगढ़ के दांतेवाड़ा जिले के चिंतलनार गांव में माओवादियों ने घात लगा कर केंद्रीय रिज़र्व पुलिस बल (सीआरपीएफ) के 76 जवानों की हत्या कर दी थी।) के बाद छिड़ी बहस में नवउदारवादी और संप्रदायवादी माओवादियों के खिलाफ एक स्वर में बोले हैं। उनका ऐलान है - माओवादियों को सेना का इस्तेमाल करके एकबारगी और एकमुश्त नेस्तनाबूद कर देना चाहिए। सत्तापक्ष और विपक्ष से 'अभी नहीं तो कभी नहीं' की पुकार

थमने का नाम नहीं ले रही है। उस पुकार में आवाज न मिलाने वालों को बुश की तर्ज पर माओवादियों के साथ बताया जा रहा है। मौके का फायदा उठा कर संदेश दिया जा रहा है कि नागरिक स्वतंत्रता और अधिकारों की हिमायत करने वाले तथा गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, बीमारी, अशिक्षा आदि समस्याओं को उठा कर 'विकास' में विघ्न पैदा करने वालों को माओवादियों के साथ ही निपटा दिया जाए। चैन की बंसी तभी बजेगी! यह अच्छा संकेत है कि सेनाध्यक्ष जनरल वीके सिंह और वायुसेना अध्यक्ष एयरमार्शल वाईपी नायक ने देश के अंदर युद्ध लड़ने में रुचि नहीं दिखाई है। हालांकि वे वही करेंगे जो सरकार कहेगी, लेकिन क्या प्रधानमंत्री उनके उत्तर में छिपा यह संदेश पढ़ सकते हैं कि सेना के अधिकारी यह नहीं मानते कि माओवादी आंतरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा हैं।

राज्य के कर्ताओं की इस मुहिम में अखबारों और चैनलों के कई पत्रकार पेशे की गरिमा त्याग कर एक्टिविस्ट की तरह व्यवहार करते हैं। हालांकि वे अहिंसक प्रतिरोध के भी उतने ही खिलाफ होते हैं, लेकिन राज्य के खिलाफ हिंसक वारदातों पर उनका खून खौल जाता है और वे 'मारो-मारो' की पुकार मचाने लगते हैं। हमारा इतना ही कहना है, अगर एक्टिविस्ट होने का शौक है तो उन्हें अपनी मर्जी की पार्टी में शामिल होना चाहिए। माओवादियों के समर्थक कुछ पत्रकारों और बुद्धिजीवियों का तेवर भी एक्टिविस्टनुमा होता है, जबकि उनमें ज्यादातर नवउदारवादी पूंजी के खेल में पूरा डूबे होते हैं। उनमें से कई तो बड़े भारी एनजीओबाज हैं और कई फोर्ड फाउंडेशन और रॉक फेलर जैसी संस्थाओं के लिए काम करते हैं।

हम पहले कई बार बता चुके हैं कि नवउदारवाद को संप्रदायवाद (कम्युनलिज्म) से परहेज नहीं होता। शर्त यही है कि संप्रदायवादी पक्का नवउदारवादी बन जाए। पहले के अटल-अडवाणी और अब के नरेंद्र मोदी इसका उदाहरण हैं। अलबत्ता दोनों की जनता को धोखा देने की रीति-नीति अलग-अलग है। नवउदारवादी भारतीय राज्य को अमेरिका जैसा बनाने और संप्रदायवादी आर्यवर्त जैसा बनाने का धोखा देते हैं। इन दोनों धोखों का नतीजा एक निकलता है - भारतीय राज्य उसकी जनता का नहीं है। राज्य को उखाड़ फेंकने वालों को राज्य की सैन्य-शक्ति से कुचल देने का दम भरने वाले नवउदारवादियों और संप्रदायवादियों की धारणा में भारतीय राज्य शासक-वर्ग का होता है। वे न केवल खुद बिना किसी संदेह के इस धारणा में जीते हैं, उसका पूरा प्रचार-प्रचार भी करते हैं। लोकतंत्र में उसका रूप भले ही बदल गया हो, यह विस्तार से बताने की जरूरत नहीं है कि शासक-वर्ग भारतीय राज्य को आज भी राजा-प्रजा की तर्ज पर चलाता है।

जिस जनता को शासक-वर्ग ने राज्य से बेदखल किया हुआ है, माओवादी उस जनता के नाम पर राज्य को उखाड़ फेंकने का आह्वान करते हैं। जाहिर है, वैसे आह्वान की अपील राज्य से पराई

बना दी गई जनता के एक हिस्से में बनेगी ही। माओवादियों के आह्वान की वास्तविकता पर चर्चा हम कुछ देर और रोक कर रखेंगे। उससे पहले भारतीय शासक-वर्ग के चरित्र को जान लेना उचित होगा, जो भारतीय राज्य को अपनी बपौती मानता है। यह केवल आज का मामला नहीं है, बल्कि पिछले पंद्रह सौ सालों से यहां का शासक-वर्ग भारतीय राज्य को अपनी बपौती बनाए हुए है। दुनिया के बाकी देशों में भी कमोबेश यह स्थिति रही हो सकती है। लेकिन दुनिया से अलग भारत की विशेषता यह है कि यहां शासक बदलने पर शासक-वर्ग कभी नहीं बदलता है।

जातिप्रथा को इसका कारण मानते हुए डॉ. राममनोहर लोहिया ने पुश्तैनी शासक-वर्ग को हिंदुस्तानी क्रांति के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा बताया है। लोहिया के मुताबिक हिंदुस्तान का पुश्तैनी शासक-वर्ग पुश्तैनी गुलाम भी होता है। आधुनिक युग में भी उसका गुलामी का रोग गया नहीं, बल्कि परवान चढ़ा है। (इस विषय पर लोहिया के तीन लेख 'निराशा के कर्तव्य', 'अवरुद्ध क्रांति' और 'नक्सलबाड़ी' देखे जा सकते हैं।) हम यहां अपने विश्लेषण के लिए मौजू उनका एक उद्धरण देना चाहेंगे : "ये दो नंबर के राजा हिंदुस्तान में कभी खतम नहीं हो पाते। एक नंबर वाला राजा तो बदलता रहता है। पठान गए, मुगल आया; मुगल गए, मराठा आया; मराठा गए, अंग्रेज आया; अंग्रेज गए, तो जो भी कोई आया। पुश्तैनी गुलाम, दो नंबर के राजा, शासक-वर्ग, जो भी आप इनको कह लें, इनकी कसौटियां बनाना काफी मुश्किल होगा लेकिन मोटी तरह से आज की दुनिया में ये कसौटियां हो सकती हैं - एक, एक हजार रुपये महीने से ऊपर की आमदनी अथवा खर्चा; दो, सामंती भाषा। आज अंग्रेजी सामंती भाषा है; किसी जमाने में पुश्तैनी गुलाम के लिए फारसी रही होगी। इस तरह की कुछ कसौटियों पर आज मोटी तौर से करीब 50 लाख आदमी हैं। यह शासक-वर्ग, पुश्तैनी गुलाम, दो नंबर के राजा, बदलते नहीं। ये सब चीजों से मिलाप कर लेते हैं और हिंदुस्तान हर किसी तूफान के सामने झुक जाता है। झुकने का माध्यम है यही शासक-वर्ग, पुश्तैनी गुलाम। ('निराशा के कर्तव्य', पृ. 5-6)

### **माओवादी नेतृत्व का वर्ग-चरित्र?**

अरुंधती राय ने दंडकारण्य में माओवादियों के साथ के अनुभव पर जो लेख 'आउटलुक' में लिखा है, वह माओवादी नेतृत्व और बाकी के शासक-वर्ग के पढ़ने के लिए है। जिन कामरेडों के साथ अरुंधती राय कुछ कदम चली है, वे उसे केवल देख सकते हैं। नेतृत्व द्वारा वह पत्रिका उन्हें जरूर दिखाई गई होगी। अपनी फोटो देख कर वे आदिवासी जरूर रोमांचित हुए होंगे। अंग्रेजी की पत्रिका में बंदूक उठाए रंगीन फोटो छपी देख कर अपनी भूमिका में उन्हें विश्वास भी गहरा हुआ होगा। पुश्तैनी शासक-वर्ग की आदिवासी जीवन और उनके परिवेश के साथ रोमांस की लंबी परंपरा है। उस परंपरा में कई यूरोपीय नौकरशाह और विद्वान भी शामिल रहे हैं। अरुंधती राय

ने अपनी यात्रा में पुराने रोमांस को नए रोमांच तक पहुंचाया है। उनकी यात्रा का यह महत्व बनता है कि बदले में आदिवासियों को भी रोमांच का अनुभव हुआ हो!

भारत के शासक-वर्ग की परिभाषा और चरित्र पर बात करते हुए हमारा सामना कुछ असुविधाजनक सवालों से होता है, जिन्हें अक्सर पूछा न जाकर दबा दिया जाता है। एक सवाल यह उठना स्वाभाविक है कि हिंदुस्तान में सशस्त्र माओवादी अथवा साम्यवादी क्रांति हो जाने के बाद शासक-वर्ग कहां से आएगा? आदिवासी और दलित जब पोलित ब्यूरो के सदस्य नहीं हो सकते तो सरकार में कैसे लिए जा सकते हैं? व्यापारी, बुद्धिजीवी और शासक-वर्ग की कला के कलाकार आदि वे हो नहीं सकते। ऐसे में जनता के नाम पर पार्टी नेतृत्व शासक-वर्ग होगा। जाहिर है, वह सवर्ण, अंग्रेजी बोलने-लिखने वाला और महीने में कई हजार रुपया पाने और खर्चा करने वाला होगा। इतने बड़े देश को चलाने के लिए पार्टी नेतृत्व के बाहर से भी शासक लेने होंगे। अब चीन और रूस तो पहले जैसे रहे नहीं कि वहां से लोग या निर्देश मंगाए जा सकें! वे भारत के पुश्तैनी शासक-वर्ग से ही आएंगे। यानी जो भी रक्तपात होगा, उससे क्रांति नहीं, 'वर्ग-मित्रता' कायम होगी।

आप जरूर कहेंगे कि हमने माओवादी नेतृत्व के साथ अरुंधती राय को भी शासक-वर्ग में शामिल कर दिया है। हम कुछ प्रतिपादित नहीं कर रहे हैं, जो वास्तविकता सबके सामने है, वह बता भर रहे हैं। बस आपका इतना ध्यान खींचना चाहते हैं कि चर्चा जब सामान्य प्रगतिशील और परिवर्तनकारी विचारों और शक्तियों के बारे में न होकर, हिंदुस्तान की समाजवादी क्रांति के बारे में हो तो उसका गंभीर होना लाजिमी हो जाता है। गंभीरता का एक आयाम यह होगा कि क्रांति के नेतृत्व के वर्ग-चरित्र का वस्तुनिष्ठ निर्धारण और आकलन होना चाहिए। नक्सलबाड़ी और उसके बाद के दौर के नेतृत्व के प्रमुख नामों में से कुछ नाम देखें : चारू मजूमदार, कानू सान्याल, असीम चटर्जी, चंद्रपुल्ला रेड्डी, सुशीतलराय चौधरी, सौरभ बोस, कोंडापल्ली सीतारमैया, के.जी. सत्यमूर्ति, नागभूषण पटनायक, के. वेणु, विनोद मिश्र, सत्यनारायण सिंह, शिवकुमार मिश्र आदि। उनके साथ वर्तमान दौर के नेतृत्व के कुछ नाम देखे जा सकते हैं : मुप्पला लक्ष्मणराव उर्फ गणपति, कोबाद गांधी, मल्लोजुला कोटेश्वर राव उर्फ किशनजी, प्रमोद मिश्रा, आशुतोष तुडु, अमिताभ बागची, कतकम सुदर्शन उर्फ आनंद, चेरुकुरी राजकुमार उर्फ आजाद, किशनदा उर्फ प्रशांत बोस आदि। इनके साथ अगर समर्थक बुद्धिजीवियों की सूची और जोड़ दें तो तस्वीर साफ हो जाती है कि वे सभी सवर्ण, ज्यादातर अगड़ी जातियों के और उस नाते बचपन से नेता होने तक विशेषाधिकार प्राप्त लोग हैं।

माओवादी आंदोलन के करीब पैंतालीस साल लंबे समय में एक भी आदिवासी, दलित, पिछड़ा, स्त्री अथवा गरीब अल्पसंख्यक बड़ा नेता या सिद्धांतकार नहीं हुआ है। वह हो भी नहीं सकता। कभी इसकी भी पड़ताल होनी चाहिए कि माओवादी आंदोलन में हमेशा ज्यादातर अगड़े और कुछ पिछड़े सवर्ण ही क्यों नेतृत्व में आते हैं? कतिपय अन्य कारणों के अलावा क्या यह कहा जा सकता है कि वे आदतन अभाव या नुकसान झेलने के आदी नहीं होते। अभाव और नुकसान की स्थिति में वे कोई 'छोटा' काम नहीं कर सकते। इसलिए व्यवस्था के खिलाफ बंदूक उठा लेना, जो उन्हें खुद नहीं चलानी है, उनके लिए आसान होता है। उनके पास वह बुद्धि भी होती है जो गरीब आदिवासियों, जिनका इस देश में कोई पुरसाहाल नहीं है, और अतिदलितों, जिन्हें आरक्षण का फायदा नहीं पहुंचा है, को लड़ने के लिए तैयार कर सकें। अरुंधती राय भारतीय राज्य को हिंदू राज्य कहती हैं। वह सही है, लेकिन उतना ही सही यह भी होगा कि समूचा माओवादी नेतृत्व हिंदू नेतृत्व है।

माओवाद और सामान्य मार्क्सवाद के अध्येताओं और समर्थकों को दूसरों का वर्ग-चरित्र बड़ा साफ दिख जाता है। विशेषकर गांधी का, जिसे वे बिना हिचक के अंग्रेजों से लेकर सामंतों-सेठों तक का पिठू बताते हैं। साथ ही गांधी के अहिंसक रास्ते का भला-बुरा उपयोग करने वाले विनोबा और जेपी जैसे लोगों को सीधे शासक-वर्ग के खाते में डालते हैं। मजेदारी यह है कि वे अपने वर्ग-चरित्र को कभी सवाल के दायरे में नहीं आने देते। जो हिंसक रास्ते को ही एकमात्र मानते हैं, या जो हिंसक रास्ते का विकल्प भी हमेशा खुला रखना चाहते हैं, उनके वर्ग-चरित्र पर कोई सवाल न खड़ा किया जाए! यह तो वही पुरानी बात हुई कि ब्राह्मण कानून से ऊपर होता है!

दरअसल, भारतीय वामपंथी बुद्धिजीवी आमतौर पर द्विभाजित होता है। वह शासक-वर्ग का हिस्सा और सेवक रहने के बावजूद अपने को वर्ग-आधार से ऊपर मानता है; ऊपर से क्रांति की बड़ी-चढ़ी बातें कर लेना उसके लिए आसान होता है; किन्हीं क्रांतिकारी समूहों द्वारा हिंसक वारदात होने पर वह नशे में झूमने लगता है; हर वैसी वारदात में उसे क्रांति का दर्शन होता है; वह मस्त हो जाता है और उस मस्ती में अपनी वर्गीय हैसियत मजबूत करता जाता है। ऐसा लगता है कि अंदरखाने उसे पता और विश्वास होता है कि भारतीय राज्य कभी उखाड़ कर नहीं फेंका जाएगा। क्योंकि मसला माओवादियों और राज्य के बीच में होता है। जनता, जो राज्य के खिलाफ वाकई कुछ कर सकती है, माओवादी नेतृत्व के मातहत होती है।

अरुंधती राय का समस्या को देखने का जो नजरिया है, उसमें जनता खुद कुछ नहीं कर सकती। पहले वे देखती हैं कि नर्मदा बचाओ आंदोलन से - जिससे 'बड़े' लोग जुड़े हैं, जिसे मीडिया कवरेज मिलता है, जिसके पास संसाधनों की कमी नहीं है - जनता की भलाई के लिए कुछ नहीं

होता। फिर वे माओवादियों की तरफ घूम जाती हैं, जो उनके मुताबिक जनता के लिए जरूरी हिंसक संघर्ष कर रहे हैं। उनका मानना हुआ कि जनता का काम बड़े लोग ही कर सकते हैं - वे बड़े लोग जिन्होंने हिंसा का सही और निर्णायक रास्ता अपनाया हुआ है। सच्चाई यह है कि आदिवासियों से लेकर असंगठित क्षेत्र में रोजी-रोटी कमाने वाली देश की ज्यादातर आबादी इस विकट दौर में खुद ही जीवन का संघर्ष चला रही है। उसके पास केवल वोट मांगने वाले नेता और उनके दलाल जाते हैं। माओवादियों और जनांदोलनकारियों को केवल कुछ पॉकेट और कुछ लोग चाहिए होते हैं। पूरी आबादी के लिए उनके पास कोई कार्यक्रम नहीं है। जनता के प्रति यह नज़रिया गहरे में लोकतंत्र-विरोधी है।

दरअसल अरुंधती राय और माओवाद के समर्थक बुद्धिजीवी सारे मामले को माओवादी बनाम राज्य बना देते हैं। यह स्थिति माओवादियों और राज्य दोनों को सूट करती है। क्योंकि इसमें जनता कहीं बीच में नहीं आती। सरकार चाहती है माओवादियों और उसकी सीधी टक्कर हो, ताकि वह अपने अधिनायकवादी चरित्र को और ज्यादा मजबूत कर सके। माओवादी चाहते हैं उन्हें आदिवासियों का एकमात्र प्रवक्ता मान लिया जाए, ताकि उनका आधार विस्तृत हो। राज्य और माओवादियों की लड़ाई में आदिवासी तो मरेंगे ही, बाकी समाज में नागरिक स्वतंत्रता और अधिकारों के लिए जगह और कम हो जाएगी।

अरुंधती राय के लिए भारत का लोकतंत्र फर्जी हो सकता है, लेकिन जीवन संघर्ष में बड़े लोगों के लिए वही एक प्राणवायु है। वे अहिंसक और हिंसक तरीकों से संघर्ष करने वाले संगठनों के बाहर निकल कर देखेंगी तो पता चलेगा कि विकल्प के तौर पर जीवन का विशाल क्षेत्र पड़ा है। भारत के बुद्धिजीवियों की समस्या यह है कि वे जनता से कटे हुए हैं, और फिर भी उसके प्रवक्ता बनना चाहते हैं। उन्हें एक गांव की एक अनाम पंचायत बुलाए और अमेरिका की कोई संस्था भाषण देने के लिए बुलाए, तो वे पहले से की गई हां के बावजूद, बिना किसी हिचक और खेद के अमेरिका चले जाएंगे। लेकिन जनता के वोट से राजनीति करने वाला नेता कभी ऐसा नहीं करेगा। कहने का आशय यह है कि सारा मामला शासक-वर्ग - माओवादी, राज्य और बुद्धिजीवी - के बीच का बना रहता है।

इसीलिए भारतीय राज्य को उखाड़ फेंकने का आह्वान निरर्थक हो जाता है। शासक-वर्ग की राज्य पर कब्जेदारी को आम आदमी के नाम पर बताने का जो खेल मौजूदा संसदीय लोकतंत्र में चलता है, वही एक पार्टी के 'क्रांतिकारी लोकतंत्र' में भी चलता रहेगा। क्रांति अवरुद्ध ही रहेगी। वह अवरोध तभी हटेगा, जैसा कि लोहिया ने कहा है, जब राजनीतिक क्रांति के समानांतर सामाजिक क्रांति होगी। सामाजिक क्रांति के लिए हिंदुस्तान के समाज को सबसे पहले उसकी

शर्तों पर समझना होगा। मुख्यतः उस वृहत्तर समाज को जिसे पुश्तैनी शासक-वर्ग ने लंबे समय से हाशिए पर रखा हुआ है। हालांकि पुश्तैनी शासक-वर्ग की मानसिकता को समझना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस समझदारी के लिए न नवउदारवादी तैयार हैं, न माओवादी। नवउदारवादियों के पास भारतीय राज्य को आर्थिक महाशक्ति बनने का अमेरिका का दिया नक्शा है, और माओवादियों के पास उसे उखाड़ फेंकने का रूस और चीन का दिया नक्शा है।

अब माओवादियों की विचारधारा और रणनीति की भारतीय वास्तविकता की कसौटी पर चर्चा करते हैं। हम यह नहीं कहते कि जिन देशों में समाजवादी क्रांतियां हुई हैं, वहां के अनुभव से लाभ नहीं लेना चाहिए। वैश्विक स्तर पर विचारधाराओं, पार्टियों और नेताओं से परामर्श लेने में कोई बुराई नहीं मानी जानी चाहिए। लेकिन हिंदुस्तानी समाज को प्रदत्त फार्मूलों के बजाय उसी की विशेषताओं और शर्तों पर समझना सबसे पहले जरूरी है। इस मामले में माओवादी आंदोलन समेत पूरा मार्क्सवादी आंदोलन पराश्रयी रहा है। विचारधारा, थीसिस, रणनीति, लाइन, मजदूर-चेतना ही नहीं, नई किसान-चेतना भी आयात किए जाने के तर्क दिए जाते रहे हैं। रूस और चीन अब वैसे नहीं हैं जैसे चालीस साल पहले थे। लेकिन माओवादी अभी भी उन्हें ही आदर्श मान कर चल रहे हैं।

उदाहरण के लिए हाल के माओवादी आंदोलन को देखा जा सकता है। 2004 में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (एमएल), पीपुल्स वार गुट (पीडब्ल्यूजी) और माओवादी कम्युनिस्ट केंद्र (एमसीसी) के विलय से कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (माओवादी) की स्थापना हुई। विलय से पहले पीपुल्स वार गुट की लाइन मार्क्सवादी-लेनिनवादी और माओवादी कम्युनिस्ट केंद्र की खालिस माओवादी लाइन थी। लिहाजा, यह तय पाया गया कि कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (माओवादी) मार्क्सवादी-लेनिनवाद और माओवाद की संयुक्त वाहक होगी। संसदीय लोकतंत्र को खारिज करने, वर्ग-शत्रु का सफाया करने और छापामार युद्ध पर आधारित लगातार सशस्त्र लड़ाई के जरिए भारतीय राज्य को उखाड़ फेंकने का लक्ष्य पहले की तरह बरकरार रखा गया। लंबी गुटबाजी, खून-खराबे के बाद और दरपेश नई परिस्थितियों के मद्देनजर कुछ भी नया नहीं सोचा गया है।

### **हिंसा का तर्क**

हिंसा होती है, कभी आदिवासी और दलित मारे जाते हैं, कभी सुरक्षा बलों के जवान। छत्तीसगढ़, उड़ीसा, झारखंड, आंध्र प्रदेश और पश्चिम बंगाल के वही जिले माओवाद से विशेष प्रभावित हैं, जहां आदिवासियों की आबादी ज्यादा है। अंग्रेजों के जमाने से ही आदिवासियों में पूंजीवादी आधुनिक सभ्यता के प्रति पराएपन का भाव रहा है। यह माना जा सकता है कि इसी वजह से आदिवासी माओवादियों के कहने पर हथियार उठाने में सबसे ज्यादा और सबसे आगे रहते हैं। उन्हें नहीं



मालूम कि माओवादी क्रांति होने के बाद भी जंगलों पर उनका परंपरागत हक बहाल नहीं होगा। बड़ा चीन देख लीजिए या छोटा नेपाल, दुनिया में विकास का मॉडल वही है, जिसमें खनिजों का अंधाधुंध दोहन किया जाना अनिवार्य होता है।

25 अप्रैल के 'हिंदू' अखबार में प्रोफेसर रणधीर सिंह ने कहा है कि माओवादियों को विकास का वैकल्पिक मॉडल सामने रखना चाहिए। उनकी बात सही है। हालांकि अति वामपंथी धाराओं में सम्मानित उनके स्तर का विद्वान यह भी कहता तो अच्छा होता कि अब समय आ गया कि हिंसक संघर्ष का भी विकल्प होना चाहिए। अगर तेलंगाना-तेभागा से सशस्त्र संघर्ष की शुरुआत मानें तो उस रास्ते पर चलते करीब 65 साल हो गए हैं। इस बीच भारतीय राज्य अपनी भली-बुरी कल्याणकारी राज्य की भूमिका त्याग कर पूंजीवादी कारपोरेट जगत का एक्सटेंशन बन गया है। वह सारे मसले पुलिस बलों और सेना से सुलझाना चाहता है। उसे यह माफिक पड़ता है कि निगम भारत (कारपोरेट इंडिया) के प्रतिरोधी हिंसक हों। वह अहिंसक संघर्ष करने वालों, जिनकी माओवादियों के मुकाबले भारी तादाद है, को भी हिंसक बनाना चाहता है। शासक-वर्ग की तरफ से इसके स्पष्ट संकेत आ रहे हैं कि उसे निकट भविष्य में देश में गृहयुद्ध छिड़ जाने से परेशानी नहीं है। शायद उसने सोच लिया है कि आबादियों का सफाया करके ही कारपोरेट भारत का भव्य निर्माण किया जा सकता है। उसका पहला प्रयोग आदिवासियों पर और दूसरा किसानों पर चल रहा है।

आधुनिक औद्योगिक सभ्यता में आदिवासी अपनी जीवनशैली और विश्वासों के चलते फंस गए हैं। वे पूंजीवाद की तरफ से भी मारे जा रहे हैं, माओवाद की तरफ से भी। उनका दुश्चक्र देखिए - मनमोहन सिंह को माओवादी चाहिए, ताकि लड़ाई हिंसक हो और खदानों पर कंपनियों का स्थायी कब्जा हो सके। माओवादियों को आदिवासी चाहिए, ताकि उनकी हिंसक लड़ाई जारी रह सके और भारतीय राज्य पर कब्जा हो सके। माओवादियों के प्रभाव में आने से बचे आदिवासियों को सलवा जुद्ध में शामिल कर माओवादियों से प्रभावित आदिवासियों से भिड़ा दिया जाता है। आदिवासियों के जीवन का लक्ष्य हिंसा बनाया जा रहा है। अरुंधती राय ने जिक्र किया है कि आदिवासी औरतें केवल वर्ग-शत्रु की नृशंस हत्या दिखाने वाले वीडियो देखना पसंद करती हैं। प्रदेश सरकार के साथ मिल कर सलवा जुद्ध की स्थापना करने वाले कांग्रेस के विधायक महेंद्र कर्मा, जो खुद आदिवासी हैं, कहते हैं आदिवासी कैंपों से घर लौटना नहीं चाहते, वे माओवादियों की हत्या करना चाहते हैं।

आजाद भारत में विस्थापन आदिवासियों की नियति बन चुका है। आधुनिक विकास के चलते विस्थापित होने वालों में सबसे बड़ी संख्या उन्हीं की है। जहां वे रहते आए हैं, वहां खनिज संपदा दबी है। वह विकास के लिए चाहिए। लिहाजा, आदिवासियों को वहां से उजड़ना पड़ता है। खनिज संपदा के दोहन, उत्पादन और 'नए भारत' के निर्माण-कार्य में लगने के लिए सस्ता आदिवासी श्रम चाहिए। कुछ आदिवासी माओवादियों के पास, कुछ सलवा जुडुम के पास और बाकी विस्थापित हालत में ठेकेदारों के पास हैं। वे अपने घरों में सुख-शांति से कैसे रह पाएंगे?

किसानों के जीवन का सुख-चैन भी बचा नहीं है। खेत जोतने पर बदहाली और जमीन बिकने पर मालामाली के बीच फंसा किसान विचित्र प्राणी बनता जा रहा है। बदहाली का तो वह अंग्रेजों के जमाने से आदी रहा है, मालामाल होने की स्थिति में अभी आया है। बदहाली में वह आत्महत्या कर लेता है, मालामाली में कोठी, कार और शराब खरीद लेता है। जमीन का पैसा खत्म होने पर वह क्या करेगा, इसकी बानगी महानगरों की चपेट में आ चुके किसानों की हालत में देखी जा सकती है। देश की आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा लुंपेन बनने जा रहा है। जाहिर है, वे किसी न किसी तरह की हिंसा के काम आएंगे।

माओवादी आंदोलन पर कई पुस्तकें और लेख प्रकाशित हैं। उनमें आंदोलन के वस्तुनिष्ठ व आलोचनात्मक अध्ययन के साथ प्रशंसात्मक लेखन भी है। प्रशंसात्मक लेखन में हिंसक और जोखिमपूर्ण कार्रवाइयों के प्रति गहरा आकर्षण देखने को मिलता है। भाव यह होता है कि हिंसा होती रहेगी तो कुछ न कुछ होगा। हिंसक कार्रवाइयों के साथ कुछ समय के लिए जनता के बीच संगठन और प्रचार की जरूरत तो स्वीकार की जाती है, लेकिन अहिंसा को पूरी तरह खारिज किया जाता है। कह सकते हैं कि माओवादी इस्लामी कट्टरतावादियों का समर्थन पहले हिंसा के वास्ते करते हैं, अमेरिका-विरोध उसके बाद आता है। प्रशंसकों द्वारा माओवादियों की प्रशंसा का केंद्रीय तर्क आंदोलन का हिंसक होना होता है। इस धारणा की समस्या यह है कि उससे राज्य की हिंसा की अनिवार्यता तय कर दी जाती है। हालांकि समस्या इसके आगे भी जाती है।

आधुनिक औद्योगिक सभ्यता अपने उदयकाल से ही एक हिंसक सभ्यता है। वह मुख्यतः हिंसा के तर्क पर चलती है, यह सच्चाई उपनिवेशवादी दौर से लेकर नवसाम्राज्यवादी दौर तक स्पष्ट देखी जा सकती है। इसने अनेक आक्रमणों, युद्धों, महायुद्धों, गृहयुद्धों और सफायों में दस करोड़ से ज्यादा लोगों की जान ली है। साथ में मानवेतर प्रजातियों भी पर हिंसा कहर बरपा है। इसमें पूंजीवादी, साम्यवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं की सम्मिलित हिस्सेदारी है। यह हिंसक सभ्यता चाहती है हिंसा दर हिंसा का सिलसिला चलता रहे। इसके हथियार, सैक्स और ड्रग उद्योग पर एक नजर डालने से पता चल जाता है कि इसके संचालन का केंद्रीय तर्क हिंसा और

आधिपत्य है। यह सभ्यता बच्चों की हर पीढ़ी को हिंसा के नर्क में झोंकती है, जहां वे पीढ़ियां अनेक हिंसाओं की पीड़ा झेलते हुए अभ्यस्त बनती हैं। इस सभ्यता ने हिंसा के पक्ष में अनेक तर्क गढ़ रखे हैं। तभी वह चलती है। यहां उनके ब्यौरे में नहीं जाया जा सकता। बस इतना कहना चाहते हैं कि जब नागरिक स्वतंत्रता और मानवाधिकारों के सचेत पहरुए भी हिंसा को एकमात्र रास्ता बताने लगते हैं, तो हिंसक सभ्यता और मजबूत होती है।

यह कहना कि कि अत्याचारी राज्य के सामने अहिंसक प्रतिरोध का रास्ता फेल हो गया है, अहिंसक प्रतिरोध की निरर्थकता को बता सकता है, लेकिन उससे हिंसक प्रतिरोध की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। अहिंसक प्रतिरोध अगर निरर्थक होता है, तो एक आशा बची रहती है। लेकिन हिंसक प्रतिरोध, चाहे वह गोद का बच्चा हो या बड़ा राक्षस बन जाए, हिंसक सभ्यता की संगति में होता है। इस धरातल से गांधी की अहिंसा पर बात हो, तो उसकी सार्थकता समझ में आ सकती है। क्योंकि माओवादी और उनके समर्थक पुश्तैनी शासक-वर्ग का हिस्सा हैं, गांधी को कभी आगे नहीं होने देंगे। गांधी के आगे आने पर लोगों को अपना भाग्य खुद तय करने का अधिकार देना होगा। यानी गांव-स्वराज का दर्शन मान्य करना होगा, जिसमें जनता अपने जीवन और संसाधनों की खुदमुख्तार होगी। तब शासक-वर्ग उन्हें गिनी पिग्स की तरह इस्तेमाल नहीं कर पाएगा। वह खुद सोचेगी। चिंतन का एक नया संसार सामने आएगा। तब क्रांति के अवरोध दूर हो सकते हैं।

यह अच्छा है कि नागरिक-समाज ने माओवादी काडरों द्वारा घात लगा कर मारे गए 76 जवानों के लिए हार्दिक संवेदनाएं व्यक्त कीं। और भी अच्छा होता अगर उस घटना में मारे गए 8 माओवादी काडरों, जो आदिवासी ही रहे होंगे, के प्रति भी संवेदना व्यक्त की जाती। बल्कि कुछ सरोकारधर्मी पत्रकार उनके घर वालों का पता लगा कर मिलते और उनका हाल बताते। नागरिक-समाज को यह समझना होगा कि भारतीय राज्य न तो उस पर काबिज शासकों का है, न उन्हें उखाड़ फेंक कर अपना कब्जा जमाने की मुहिम में लगे माओवादियों का। भारतीय राज्य भारत की जनता का है। जनता की आवाज ही उसमें सबसे प्रभावी होनी चाहिए। इस संगीन मौके पर देश की जनता को मांग करनी चाहिए : आदिवासी इलाकों में कंपनियों के साथ किए गए खनन के सारे करार तुरंत रद्द किए जाएं; जंगल पर आदिवासियों के हक के कानून को न केवल उसकी संपूर्णता में तुरंत लागू किया जाए, पुराने नुकसान की किंचित भरपाई के लिए उसमें सुधार किया जाए; आदिवासी नेता और बुद्धिजीवी शासक-जमात का पिछलग्गूपन छोड़ कर आदिवासियों के पक्ष में खुल कर सामने आए; और भारत का शासक-वर्ग संसद का विशेष-सत्र बुला कर आदिवासियों से उनके अपमान, विस्थापन, हत्या और अपसंस्कृति के लिए माफी मांगे।

यह आवाज शुरू में धीमी और कमजोर हो सकती है। लेकिन संकल्प सच्चा होने पर उसमें तेजी और मजबूती आती जाएगी।

25 अप्रैल 2010

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी के शिक्षक हैं)